|| Volume 5 || Issue 11 || November 2020 || ISO 3297:2007 Certified ISSN (Online) 2456-3293

OPEN ACCESS INTERNATIONAL JOURNAL OF SCIENCE & ENGINEERING

संसदीय प्रजातंत्र में विपक्ष की भूमिका : भारत के विशेष संदर्भ में

डॉ0 ज्योति कुमार

उच्च माध्यमिक (+2) शिक्षक (राजनीति विज्ञान), रा0कृत+2 रामेश्वर उ0मा0 विद्यालय, बम्भई (अरवल), बिहार

शोध सार : किसी भी लोकतंत्र की प्रतिनिधि संस्था में सजग व कार्यशील विपक्ष और उसके नेता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सुदृढ़ एवं संगठित विपक्ष लोकतंत्र की निशानी है। सच पूछा जाए तो विपक्ष की भूमिका उस महावत की तरह होती है जो मदमस्त चल रहे हाथी (सरकार रूपी) को अंकुश लगाते हुए सही रास्ते पर रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसदीय प्रजातंत्र में सतारूढ़ दल की भांति विपक्ष का भी देश, शासन व आम जनता के प्रति सुनिश्चित दायित्व होता है, जो समय–समय पर सरकार की खामियां उजागर करते हुए उसकी रचनात्मक आलोचना करता है तथा उसे संविधान, न्याय, जनआकांक्षाओं एवं लोककल्याण के मार्ग से विचलित नहीं होने देता। उसके विरोध और अंकुश का भय शासकों को मनमानी एवं निरंकुश होने से रोकता है। इस तरह वह सरकार में प्रहरी की भूमिका का निर्वहन करता है। और तो और, विपक्ष एक तरह से देश की वैकल्पिक सरकार भी है। संसदीय प्रणााली की मान्यताओं के अनुरूप यह अपरिहार्य है कि जहां विपक्ष का दृष्टिकोण सरकार के प्रति आलोचनात्मक होते हुए भी सृजनात्मक हो, वहीं सत्ता पक्ष में भी विपक्ष के प्रति सम्मान, उदारता, विनम्रता एवं सहिष्णुता की भावना होनी चाहिए। संसदीय लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने की दृष्टि से यह जरूरी भी है। यह अलग बात है कि आजादी के 73 वर्षों के बाद भी हम एक आर्दश और सशक्त लोकतंत्र की प्राप्ति से बहुत दूर खड़ें हैं। प्रस्तुत शोध पत्र इन्हीं उभरते आयामों को विश्लेषित करने का एक विनम्र प्रयास है।

सूचक शब्द : संसदीय प्रजातंत्र, रचनात्मक आलोचना, सजग विपक्ष, वेस्टमिंस्टर प्रणाली, प्रतिपक्ष का नेता, निरंकुश शासन, वैकल्पिक सरकार, छाया मंत्रिमंडल।

----------∴ ∴ ∴----------

भूमिका

संसदीय प्रजातंत्र में विपक्षी दलों का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। एक मजबूत लोकतंत्र के लिए जितना एक सशक्त सरकार की आवश्यकता होती है उतनी ही सबल विपक्ष की। लोकतंत्र को सभी शासन प्रणालियों में श्रेष्ठ इसलिए माना जाता है, क्योंकि उसमें सत्ता पक्ष के साथ–साथ एक सजग विपक्ष की भूमिका भी सुनिश्चित की गयी है। वास्तव में, एक सशक्त विपक्ष लोकतंत्र की ताकत है। हमने शासन की जिस वेस्टमिंस्टर प्रणाली को अपनाया है, उसमें लोकतंत्र को जीवंत बनाये रखने में विपक्ष और उसके नेता की भूमिका सत्ताधारी दल की तरह ही काफी अहम है। ऐसी मान्यता है कि संसदीय प्रणाली का उद्गम स्थल ब्रिटेन है, जहां का प्रधानमंत्री अपनी पत्नी से ज्यादा विपक्ष की जानकारी रखता है।[1] संसदीय लोकतंत्र में मजबूत विपक्ष का होना इसलिए बहुत जरूरी होता है ताकि बहुमत में आनेवाली पार्टी की सरकार पर लगातार यह दबाव और नियंत्रण रखा जा सके कि उनकी नीतियां केवल जनकल्याण और राष्ट्रहित की दृष्टि से ही बनायी जाएं। और यह नियंत्रण प्रश्न पूछकर, स्थगन प्रस्ताव लाकर, आलोचना आदि के द्वारा होता है। विपक्ष के पास एक अन्य महत्वपूर्ण हथियार 'अविश्वास प्रस्ताव' भी है। विचारणीय तथ्य यह है कि देश की शीर्ष अदालत ने भी एकाधिक बार अपनी टिप्पणी में कह चुका है कि लोकतंत्र में असहमति के स्वर दबाए नहीं जा सकते।[2]

विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त तथ्यों के मुताबिक विपक्ष शब्द विरोध की प्रतिध्वनि देता है, जबकि प्रतिपक्ष दायित्वबोध को प्रकट करता है। चुनी हुयी सरकार को जनता के प्रति जवाबदेह बनाये रखना अल्पमत विपक्ष का हक है। संसदीय लोकतंत्र में विपक्ष की भूमिका सरकार के मामलों में उसके नियंत्रक एवं मार्गदर्शक की, जनता के संबंध में उसके अधिकारों के रक्षक की तथा देशहित के मुद्दों पर जिम्मेदार राष्ट्रभक्त की होती है। जनता एवं सरकार के मध्य सेतु का कार्य भी विपक्ष का है और साथ में विपक्ष को संगठित, समर्पित व अनुशासित होना चाहिए ताकि समय आने पर वैकल्पिक सरकार का गठन कर सके। चूंकि उसे छाया मंत्रिमंडल (Shadow Cabinet) की संज्ञा भी दी जाती है।[3]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विश्व संसदों का जनक ब्रिटेन है जहां से विपक्ष की अवधारणा का विधिवत प्रारम्भ माना जाता है। औपचारिक रूप में 1828 में पहली बार कैब हाउस द्वारा 'शाही प्रतिपक्ष' शब्द का

प्रयोग किया गया। 1937 में ब्रिटिश संसद द्वारा The Minister of Crown Act पारित किया गया। इस अधिनियम के तहत विपक्ष को वैधानिक मान्यता प्रदान करते हुए नेता प्रतिपक्ष को राजकोष से वेतन व अन्य सुविधाएं देने का प्रावधान किया गया है।[4]

यह निर्विवाद तथ्य है कि भारत सहित तीसरी दुनिया के नवोदित स्वाधीन राष्ट्रों में राजनीतिक दलों का उदय विकसित (पश्चिमी) देशों की भांति शासन संचालन के उद्देश्य से नहीं हुआ बल्कि उनका उदय मुख्यतया राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु संघर्ष करने के उद्देश्य से हुआ। इसकी वजह से अधिकांश नवोदित व विकासशील राष्ट्रों में लम्बे समय तक एकदलीय व्यवस्था का प्रभुत्व बना रहा और जहां प्रभावी व संगठित विरोधी दलों का सर्वथा अभाव पाया जाता रहा है। भारत जैसे नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र में भी राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने वाले दल 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' का ही दीर्घ काल तक एकाधिकार रहा है। लेकिन कालान्तर में कांग्रेस की आंतरिक फूट से भारत में विरोधी दलों का विकास हुआ। भारतीय संविधान सभा में नाममात्र का भी विपक्ष नहीं था। सन् 1952 में सम्पन्न प्रथम आम निर्वाचन में अनेक विरोधी दल अस्तित्व में आये। हालांकि इन सभी विरोधी दलों को लोकसभा या विधान सभा में मात्र कहने भर को प्रतिनिधित्व मिला। इसके बावजूद, इन विरोधी राजनीतिक दलों की मौजूदगी के चलते हमारी शासन–व्यवस्था का लोकतांत्रिक चरित्र बरकरार रहा।[5] यद्यपि 1967 तक हमारी संसद के दोनों सदन मान्यता प्राप्त विरोधी दल एवं मान्यता प्राप्त नेता प्रतिपक्ष विहिन रहे। लेकिन 1967 के आम चुनावों के बाद देश की राजनीतिक स्थिति में अप्रत्याशित परिवर्तन आया। संसद में बड़ी संख्या में विपक्षी दलों के प्रत्याशी निर्वाचित होकर पहुंचे। विपक्ष एक कारगर व निर्णायक स्थिति में उभरा। विपक्ष के इस बढते हुए प्रभाव व शासन व्यवस्था में इसके महत्व को समझते हुए 1969 में पहली बार रामसुभग सिंह को लोकसभा एवं श्यामनंदन मिश्र को राज्यसभा में विपक्षी नेता की मान्यता प्रदान की गयी।[6]

विपक्ष की वैधानिक मान्यता

जो दल चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित मापदण्डों को पूरा करता है उसे सदन में मुख्य विपक्षी दल और उसके द्वारा चयनित नेता को 'विपक्ष के नेता' की मान्यता दी जाती है। दरअसल ये व्यवस्था इसलिए होती है कि ताकि निर्वाचित सरकार अपने आप को सर्वेसर्वा न समझ बैठे, वह तानाशाह न बन जाए, संविधान, कानून, लोकहित व जनवायदों की अवहेलना न करने लगे। सच तो यह है कि विपक्षी दल के रूप में उस दल को मान्यता मिलती है जो सदन के कुल सदस्यों के दसवें भाग के बराबर हो तथा सरकार का विरोधी हो और साथ ही जो दल को नियंत्रित, निर्देशित करते हुए उसका कुशल नेतृत्व प्रदान कर सके, वह विपक्ष का नेता कहलाता है। यहाँ पर विचारणीय तथ्य यह है कि वह दल जो सदन में सत्तारूढ़ दल के बाद संख्या में दूसरे स्थान पर है और वह सरकार का समर्थक है तो उसके नेता को प्रतिपक्ष का नेता नहीं माना जा सकता।[7] लॉर्ड कैपलिन ने इस स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''वैसे तो भारतीय संसद एवं राज्यों के विधानमंडलों में बहुत से दल विपक्षी दल होते हैं, परन्तु मान्यताप्राप्त विपक्षी दल से आशय है सदन में सत्तारूढ़ दल के बाद सदस्य संख्या की दृष्टि से द्वितीय स्थान का सरकार विरोधी दल, जिसका नेता इतना अनुभवी हो की वक्त आने पर वैकल्पिक सरकार का गठन कर सके।''

राज्यसभा और लोकसभा में विपक्ष के नेता की महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए उन्हें वैधानिक मान्यता प्रदान की गयी है। उन्हे 1 नवम्बर 1977 को प्रभावी एक पृथक विधान के माध्यम से वेतन, भत्ते तथा अन्य उपयुक्त सुविधाएं प्रदान की जाती है। इसी अधिनियम के तहत भारत में मान्यताप्राप्त विपक्ष के नेता को कैबिनेट मंत्री का दर्जा देने की प्रथा भी चल पड़ी है।[8]

नेहरू शासन काल और विपक्ष की भूमिका

भारतीय लोकतंत्र का इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि हमारे देश में जहां एक ओर विपक्षी दलों और नेताओं ने सत्तारूढ़ दल की रचनात्मक आलोचना करने व अपनी राष्ट्रीय जिम्मेदारी के निर्वहन की एक श्रेष्ठ मिशाल पेश की है, वहीं दूसरी ओर सत्ता पक्ष ने भी विपक्षी नेताओं के प्रति आदर, स्नेह एवं सहिष्णुता का अभूतपूर्व परिचय दिया है। कहना न होगा कि हमारे संसदीय प्रजातंत्र को मजबूत, स्थायी एवं परिष्कृत बनाने में सत्तापक्ष एवं विपक्ष की समान भूमिका रही है। नेहरू युग इसका जीता– जागता प्रमाण है। या यूं कहें कि नेहरू शासनकाल सत्ता–विपक्ष के लिए स्वर्ण युग था।

यह एक ऐतिहासिक सच है कि विपक्षी नेता के रूप में डॉ0 राममनोहर लोहिया, मधु लिमये, अटल बिहारी वाजपेयी, सुषमा स्वराज जैसी कालजयी विभूतियों को आज भी स्मरण किया जाता है, जिन्होनें संसदीय लोकतंत्र के सतर्क प्रहरी की भूमिका निभाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बेशक, जब इनलोगों के सदन में बोलने की बात फैलती तो मिनटों में सदन और उसकी दीर्घाएं लबालब भर जाती थी। सत्तापक्ष उनकी बातों को संजीदगी से सुनता था। हीरेन मुखर्जी, आचार्य कृपलानी, रेणु चक्रवर्ती की उच्चकोटि की वाक्पटुता सरकार की नीतियों और कृत्यों की बखिया उधेड़ कर रख देती थी। ऐसे कुशल विपक्ष की अनदेखी करना सरकार के लिए असंभव था।[9]

1950 से लेकर 1964 तक संसद निश्चित तौर पर हमारे लोकतांत्रिक प्रणाली का सबसे जीवंत मंच था। संसदीय प्रणाली के अध्येता आज भी डॉ0 राममनोहर लोहिया और पं0 जवाहर लाल नेहरू के बीच होनेवाली बहसों को याद करते हैं।[10] सच तो यह है कि नेहरू अपने विरोधियों के विचारों के प्रति सहनशीलता और सम्मान की भावना रखते थे। वे सच्चे अर्थो में लोकतांत्रिक आस्था की प्रतिमूर्ति थे। वह न केवल अपनी कटु आलोचना और प्रहारों को सहर्ष सुनते–सहते थे अपितु उसे प्रोत्साहित भी करते थे।[11] उनकी दृष्टि में हठधर्मिता और रूढ़िवादिता की प्रवृति लोकतंत्र के लिए घातक थी। ऐसे कितने ही ऐतिहासिक दृश्य याद आते हैं जब डॉ0 लोहिया ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को अपनी निर्मम और

कठोर आलोचनाओं तथा कटाक्षों का निशाना बनाया। 1963 में 'तीन आने बनाम पन्द्रह आने' नामक वाद–विवाद में उन्होंने ने संसद में ठोस तर्क देकर यह सिद्ध कर दिया कि देश के आम आदमी की दैनिक आय सिर्फ साढे तीन आने या चार आने है। पंडित नेहरू की ओर इशारा करते हुए डॉ0 लोहिया ने यहां तक बोल पड़े कि ''इन हजरत को देखिए, इनके कुत्ते का रोज का खर्च 25 रूपए और देश के आम आदमी की रोजाना आय 25 पैसे।'' डॉ0 लोहिया ने प्रधानमंत्री की निजी सुरक्षा और सुविधाओं पर होनेवाले भारी व्यय की भी आलोचना की। यह दूसरी बात थी कि लोहिया जी के पूरे भाषण के दौरान पंडित नेहरू अपने बायें हाथ पर ठोड़ी टेके हुए चुपचाप बैठे रहे और मुस्कुराते हुए अपनी आलेचना सुनते रहे। इस तरह, पंडित नेहरू को भी अंततः मानना पड़ा था कि आम आदमी के साथ अन्याय हो रहा है।[12]

उल्लेखनीय है कि डॉ0 लोहिया के अकाट्य तर्क शैली, उनकी आलोचना का विशिष्ट व प्रभावी अंदाज तथा तीर के समान चुभनेवाले उनके तीखे–मीठे व्यंग्य–वाणों (खासकर सत्तापक्ष के उपर) का कभी पुरा सदन कायल हुआ करता था। खासकर प्रधानमंत्री नेहरू तो उनके इन खास गुणों से इतने प्रभावी थे कि सदन में डॉ0 लोहिया के पधारने का उन्हें विशेष इंतजार रहता था। जब–कभी उनकी गैरमौजूदगी पर नेहरू जी अनायास यह बोल पड़ते थे कि अरे आज तो लोहिया जी सदन में कहीं नहीं दिख रहे हैं, जिसके चलते आज सदन सूना–सूना और आर्कषणविहिन–सा लग रहा है। जबकि डॉ0 लोहिया पंडित नेहरू के कट्टर आलोचक थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोहिया हमेशा दलीय राजनीति से उपर उठकर जनहित की बात किया करते थे। उन्होंने केरल में संविद सरकार के दौरान किसानों पर हुई पुलिस फायरिंग के मामले में अपनी ही सरकार से इस्तीफा मांग लिया था। स्वाधीन भारत के इतिहास में बुनियादी राजनीतिक ईमानदारी का यह एक अद्भूत उदाहरण है, जो मौजूदा समकालीन नेताओं में दुर्लभ ही नहीं बल्कि नामुमकिन है।[13]

समकालीन परिदृष्य और विपक्ष की बदलती भूमिका

स्वतंत्र भारत के शुरू के पांच दशकों तक सत्ता एवं विपक्ष के बीच वैचारिक मतविभिन्नता के बावजूद उच्च आदर्श एवं रचनात्मक सहयोग के लक्षण विद्यमान थे। इस दौरान हमारे यहां सत्तापक्ष एवं विपक्ष ने सदैव दलगत और पक्षपातपूर्ण राजनीति से उपर उठकर जनहित से जुड़े विधेयकों तथा राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर रचनात्मक सहयोग का परिचय दिया है। देखा जाए तो नरसिम्हा राव शासन काल में प्रतिपक्ष के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने आंतरिक मतभेद के बावजूद एक बार संयुक्त राष्ट्र में देश का प्रतिनिधित्व करते हुए सरकार का मजबूती से पक्ष रखा और कश्मीर पर पाकिस्तान के मंसूबे को नाकाम किया था।[14] बड़ी रोचक बात है कि प्रारम्भ के दशकों में जब विपक्ष संख्या में कमजोर था तब वह बहुत अधिक सक्षम और प्रभावी सिद्ध हुआ। या यूं कहें कि विपक्ष संख्यात्मक दृष्टि से कमजोर लेकिन गुणात्मक एवं चारित्रिक रूप से प्रभावी था। बाद में जब भारी संख्या में जीतकर आया तो निष्प्रभावी सिद्ध हुआ। अपनी न्यूनताओं के बावजूद भी विपक्षी नेताओं ने सभी महत्वपूर्ण अवसरों पर अपनी उपस्थिति का पूरा–पूरा भान कराया तथा सत्तापक्ष की आलोचना कर उसे बेनकाब करने व उसे सही मार्ग पर चलने को विवश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।[15] विपक्ष द्वारा किये गये विरोध और प्रहारों के कारण ही 1956 में टी0टी0 कृष्णमाचारी को मंत्री पद छोड़ना पड़ा था। रक्षामंत्री कृष्ण मेनन को प्रधानमंत्री की अनिच्छा के बावजूद मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि वह देश के सैन्यबलों को चीन के आक्रमण के विरूद्ध तैयार रखने में असफल रहे थे जिसके कारण भारत को पराजय का मुंह देखना पड़ा। गिनती में दुर्बल होते हुए भी विपक्ष ने जो भूमिका निभाई वह दो सरकारी विधेयकों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। पोस्टल बिल (डाक विधेयक) का संसद के दोनों सदनों में जमकर विरोध और शोरगुल हुआ किन्तु सरकार ने अपने भारी बहुमत के सहारे इसे पारित करा लिया। जनमत इसके विरूद्ध हो चुका था और विभिन्न मंचों पर इसका विरोध हुआ। अंत में स्वाधीन भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ जब सरकार की सलाह के बावजूद राष्ट्रपति ने डाक विधेयक को अपनी अनुमति नहीं दी और वह कानून नहीं बन सका। समाचार पत्रों की स्वाधीनता पर आघात करने वाले डिफेमेशन बिल का भी कुछ ऐसा ही हश्र हुआ।[16]

अगर हम संसद के इतिहास पर नजर डालें तो कई ऐसे उदाहरण दिखते हैं, जब विपक्ष ने मजबूती से तत्कालीन सरकार का विरोध किया, जिसके कारण सरकार को उनके सामने झुकने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं रहा। इन्दिरा गांधी की हत्या पर ठक्कर समिति की रपट और हत्या के बाद हिंसा पर रंगनाथ मिश्रा समिति की रपट सदन में रखने, श्रीलंका की स्थिति और भारतीय शान्ति सेना की भूमिका, शाहबानों का प्रकरण आदि मामले में विपक्ष और सत्ता के बीच बहुत सी तीखी झड़पें, गर्मागर्म वाद–विवाद और सदन से बहिर्गमन (वाक आउट) की घटनाएं हुयी किन्तु जिस मामले को लगातार उठाने में विपक्ष ने सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावी भूमिका निभायी वह था बोफोर्स दलाली का मामला (1987)। बोफोर्स घोटालों के विरोध में विपक्ष ने 45 दिनों तक संसद चलने ही नहीं दिया। कुल मिलाकर इस मामले में 64 घंटे और 16 मिनट की बहसें भी हुई।[17] इसी प्रकार 1992 में हर्षद मेहता से जुड़े प्रतिभूति एवं बैंक घोटाला मामले की जे0पी0सी0 जांच की मांग पर विपक्ष के भारी शोर–शराबे के कारण कई दिनों तक संसद की कार्रवाही बाधित रही। पुनश्च, 2001 में तहलका खुलासा के दौरान 17 दिनों तक संसद नहीं चली, तब जाकर सरकार को कार्यविधि करनी पड़ी।[18]

हालांकि कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने आये हैं जिनमें यह देखने को मिला कि कमजोर विपक्ष के चलते देश में एक बहुमत वाली सरकार ने तानाशाही का रूप ले लिया। इस अनुसार देखा जाए तो 1975 का आंतरिक आपातकाल विपक्ष को सत्तापक्ष द्वारा नेस्तनाबूद करने का एक अपवाद भी हमारे संसदीय प्रजातंत्र के इतिहास में मौजूद है। या यूं कहें कि आपातकाल के निरंकुश

शासन ने विपक्ष की सार्थकता को लगभग मिटा कर ही रख दिया।[19] इसके साथ ही भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक ऐसा समय भी आया जब विपक्ष की अस्तित्व का संकट पैदा हो गया। वर्तमान मोदी राज इसका ज्वलंत उदाहरण है।

इस बीच महाराष्ट्र एवं हरियाणा के विधानसभा चुनाव के परिदृश्यों को देखते हुए एक ज्वलंत प्रश्न उभरकर सामने आया है कि क्या भारतीय राजनीति विपक्ष विहीन हो गयी है? सच तो यह है कि आजादी के बाद के राजनीतिक सफर में विपक्ष की इतनी निस्तेज, लुंज–पुंज एवं विलोपपूर्ण स्थिति कभी नहीं रही। इस तरह का माहौल लोकतंत्र के लिए एक चुनौती एवं विडम्बना है।[20]

इधर कुछ वर्षों में सत्ता एवं विपक्षी दलों की स्थिति का जो सच सामने आया है, वह चिन्ताजनक है। भले ही हमारा देश विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की उपमा से अलंकृत है, लेकिन वास्तव में हमारी संसदीय राजनीति में सत्ता एवं विपक्ष की परम्परागत तस्वीर दिन–प्रतिदिन बदलती जा रही है। आज न तो सत्ताधारी और न ही विपक्षी दल अपने कर्तव्यों के प्रति गंभीर हैं।[21] देश में लोकतंत्र आज इस रूप में आ चुका है कि सत्ता और विपक्ष के विचारों में कभी समन्वय कायम नहीं हो सकता। सच तो यह है कि आज की स्थितियों में समर्थन और विरोध राजनीतिक दलों और उनके नेताओं के बदलते निहीत स्वार्थों पर निर्भर हो गया है, जबकि आम जनता की आशाओं और आकांक्षाओं पर तुषारापात हो रहा है। किसी भी लोकतंत्र के लिए इससे अधिक चिन्ता और दुर्भाग्य की बात क्या हो सकती है कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही जनमानस का सम्मान और विश्वास खो दे और आमलोगों की नजर में गिर जायें।[22]

मूल्यांकन/उपसंहार

उपरोक्त स्थितियां स्पष्ट रूप से इस वास्तविकता को प्रदर्शित करती है कि भले ही सात दशकों में देश में कांग्रेस भारी बहुमत में आया करती थी परन्तु छोटी–छोटी संख्या में आनेवाले राजनीति दल लगातार सरकार को अपने तर्कों एवं जागरूकता से दबाव में रखते थे, अपनी जीवंत एवं प्रभावी भूमिका से सत्ता पर दबाव बनाकर उसे सदैव जनवायदों को पूरा करने व कानून की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करने को विवश करते थे। सत्तापक्ष भी उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनती थी और बकायदा उनपर अमल भी करती थी। यही लोकतंत्र की जीवंतता का प्रमाण था। इस कड़ी में नेहरू–लोहिया दौर को निःसंदेह संसद के इतिहास में याद किया जाएगा। लेकिन विगत संसदीय इतिहास पर यदि हम विहंगम दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि किसी भी दल और नेता ने उचित, सार्थक और आर्दश विपक्ष की भूमिका का निर्वहन नहीं किया है। विगत कई मामलों में हमने देखा कि किस प्रकार विपक्षी दल अपनी विभिन्न मांगों को मनवाने के लिए केन्द्रीय सत्ता पर भारी पड़ी है। सदन के सदस्यों का (सत्ता एवं विपक्ष के) एक–दूसरे के उपर चिल्लाना, गाली–गलौज करना, घूंसे दिखाना, कागज फाड़ना, यदा–कदा हिंसा पर उतर आना, नारेबाजी, शोरगुल–हंगामा, पीठासीन अधिकारी की अवज्ञा, अध्यक्ष के आसन के पास जाकर धरना और कार्रवाही को न चलने देना जैसी गतिविधियां आज आम बात हो गयी है। यकीनन वर्तमान की राजनीति स्थितियों और खासकर सदनों की कार्रवाही को समाचार पत्रों की सुर्खियों व दूरदर्शन पर देखकर आम नागरिकों को लोकतंत्र के प्रति मोहभंग होना स्वभाविक है। इस तरह की प्रवृति एक आर्दश और सशक्त लोकतंत्र के लिए बेहद खतरनाक है। जैसा कि प्रखर राजनीतिशास्त्री एवं संसदीय मामलों के मर्मज्ञ हीरेन मुखर्जी का कहना यहां समीचीन प्रतीत होता है कि ''भारतीय संसद स्वर्ण युग प्राप्त किये बिना ही पतन की ओर बढ़ने लगी है।'' वास्तव में, आज जैसी राजनीति की तस्वीर उभरकर सामने आयी है उसे देखकर लगता है कि जनसेवा से प्रेरित और सिद्धांतो पर आधारित राजनीति बीते युगों की बात हो गयी है।

अंततः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि चुनाव पर आधारित संसदीय प्रजातंत्र में कई बार विपक्ष बहुत कम संख्या लेकर आता है पर बहुसंख्यक सत्ताधारी दल की यह महत्ती जिम्मेदारी होती है कि वह छोटे से विपक्ष को भी महत्व दे, उसका सम्मान करे क्योंकि, सदस्य संख्या की दृष्टि से द्वितीय क्रम पर होने के कारण वह भी जनता के बड़े भाग का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संसद के मौजूदा कार्यकाल में इस लोकतांत्रिक मर्यादा का निर्वाह नहीं किया गया है। आपसी संवादहीनता, परस्पर अविश्वास, सतही आरोप–प्रत्यारोप का जो सिलसिला 2014 के चुनाव से शुरू हुआ वह अब भी किसी न किसी रूप में बल्कि यूं कहें कि और भी अराजक रूप में जारी है। सीधे तौर पर देखा जाए तो संसदीय प्रजातंत्र को मजबूत, स्थायी एवं परिष्कृत बनाने में सत्तापक्ष एवं विपक्ष की बराबर भूमिका होती है। अतः सत्तारूढ़ दल को विपक्ष से लोकहित व राष्ट्रीय मसलों पर खुलकर राय–विमर्श करना चाहिए तथा विपक्ष की बात को ध्यान से सुनना चाहिए ताकि संघर्ष की राजनीति के स्थान पर सहयोग और समन्वय की राजनीति का शुभारंभ हो सके, साथ ही साथ संसद और सांसदों की पारंपरिक गरिमा पुनर्स्थापित हो और फिर से उन्हें जनमत में आदर और स्नेह का स्थान मिल सके। महत्वपूर्ण है कि अब तमाम प्रमुख संसदीय कार्यवाहियों का दूरदर्शन पर सीधा प्रसारण होता है, ऐसे में सक्रिय एवं आदर्श विपक्ष लोगों के बीच तेजी से अपनी पैठ बना सकता है, जो संसदीय प्रजातंत्र को मजबूती प्रदान करने के ख्याल से आवश्यक भी है।

संदर्भ :

1. हनुमंत अनुज, ''वर्तमान भारतीय परिदृश्य में विपक्ष की भूमिका'', Navprakash.com 07 नवम्बर 2015
2. प्रभात खबर, गया, 24 जुलाई 2020, पृष्ठ– 01
3. गाबा ओमप्रकाश (2018), तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा, नयी दिल्ली, मयुर बुक्स पब्लिकेशन, पृष्ठ–131।
4. दास भगवान, ''ससंदीय प्रजातंत्र में विपक्ष का नेता'', प्रतियोगिता दर्पण, आगरा, स्वदेशी बीमा नगर, जून 1998, पृ0– 1943

5. राय गांधीजी (2018), स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति, पटना, भारती भवन पब्लिशर्स, पृ0– 45–46
6. दास भगवान, पूर्वोक्त, पृ0– 1943
7. वही, पृ0– 1942
8. गाबा ओमप्रकाश, पूर्वोक्त, पृ0–131
9. काश्यप सुभाष, ''ससंद के बदलते स्वरूपः 1947–1997'', पॉलिटिक्स इंडिया, नई दिल्ली, विमोट पब्लिशर्स, सितम्बर 1998, पृ0– 32
10. हनुमंत अनुज, पूर्वोक्त
11. काश्यप सुभाष, पूर्वोक्त, पृ0– 30
12. हनुमंत अनुज, पूर्वोक्त
13. दैनिक जागरण, 23 मार्च 2018, www.jagran.com.news
14. जैन पुखराज एवं फाड़िया बी0एल0 (1992), भारतीय राज व्यवस्था, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन, पृ0– 210–11
15. दास भगवान, पूर्वोक्त, पृ0– 1944
16. काश्यप सुभाष, पूर्वोक्त, पृ0– 34
17. वही।
18. दैनिक जागरण, पूर्वोक्त
19. जैन पुखराज एवं फाड़िया बी0एल0, पूर्वाक्त, पृ0– 213
20. प्रभा साक्षी, By प्रभासाक्षी न्यूज नेटवर्क, 17 अक्टूबर 2019
21. भांबरी सी0पी0,''संसदीय प्रजातंत्र को कमजोर करता अशक्त विपक्ष'', www.jagran.com , 29 अक्टूबर 2012
काश्यप सुभाष, पूर्वाक्त, पृ0– 37

******